

भारतीय उपन्यास और प्रेमचंद

मैनेजर पाण्डेय

फकीर मोहन सेनापति के बाद भारतीय उपन्यास में किसान-जीवन के यथार्थवादी चित्रण की परंपरा और कला को प्रेमचंद ने विकसित किया। उन्होंने भारतीय उपन्यास और उसकी यथार्थवादी कला को अधिक उन्नत बनाया। उनके रचनात्मक प्रयत्न से भारतीय उपन्यास और स्वाधीनता आंदोलन के बीच अधिक आत्मीय और गहरा संबंध स्थापित हुआ। उपन्यास राष्ट्रीय जागरण में सहायक बना और सामाजिक परिवर्तन का प्रेरक भी। प्रेमचंद भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के कथाकार हैं, केवल हिंदी जाति के जातीय जीवन के कथाकार नहीं हैं। इसलिए उनके संदर्भ में भारतीय उपन्यास की अवधारणा पर विचार करना उचित होगा। उनके कथा साहित्य में भारतीय समाज के जितने वर्गों, भारतीय जीवन के जितने पक्षों और भारतीय मनुष्य के जितने रूपों का चित्रण है, वे सब किसी दूसरे भारतीय लेखक के कथा साहित्य में शायद ही मिलें। वे उन सबका वस्तुपरक चित्रण करते हैं, लेकिन भारतीय समाज के दलित जनों—किसानों, मजदूरों, हरिजनों और स्त्रियों—के प्रति अपनी अडिग पक्षधरता और गहरी सहानुभूति को छिपाते नहीं हैं। उनकी कला दृष्टि के मूल में एक विशेष सामाजिक दृष्टि है और उस सामाजिक दृष्टि के साथ भारतीय इतिहास का एक विशिष्ट बोध भी जुड़ा हुआ है, इसीलिए वे पाठकों की सामाजिक चेतना और इतिहास विवेक को प्रभावित करने में सफल हुए हैं। कई आलोचक पश्चिम के नए-पुराने बड़े उपन्यासकारों से प्रेमचंद की तुलना करते हैं, लेकिन दोनों के रचना-संदर्भों और संवेदनात्मक उद्देश्यों के अंतर पर ध्यान नहीं देते। पश्चिम के उपन्यासकारों से प्रेमचंद के रचनात्मक संदर्भ के अंतर को भुला कर उनकी कथादृष्टि की विशिष्टताओं की पहचान मुश्किल होगी।

प्रेमचंद के उपन्यासों की रचना का ऐतिहासिक संदर्भ यूरोपीय उपन्यासों से भिन्न है। प्रेमचंद जिस समाज में जी रहे थे और रचना कर रहे थे, उसमें सामंती

व्यवस्था और मूल्यों का प्रभाव था, पूँजीवादी व्यवस्था का विकास हो रहा था और इन दोनों के ऊपर साम्राज्यवाद की गुलामी और शोषण का प्रभुत्व था। भारतीय जनता सामंतवाद, पूँजीवाद और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के तिहरे शोषण-चक्र में पिस रही थी। देशी सामंतवाद और पूँजीवाद का ब्रिटिश उपनिवेशवाद से गठजोड़ था। यहाँ स्वतंत्रता, नैतिक चेतना और प्रामाणिक मूल्यों की तलाश का ऐतिहासिक संदर्भ यूरोप से एकदम भिन्न था। यहाँ स्वतंत्रता व्यक्तिगत मूल्य से अधिक एक सामाजिक मांग थी, भारतीय जनता की ऐतिहासिक आवश्यकता थी। भारत में औपनिवेशिक सत्ता के कारण सामाजिक विकास की प्रक्रिया यूरोप जैसी नहीं थी। उपनिवेशवादी सत्ता भारतीय जनता के शोषण के लिए सामंती ढाँचे को कायम रखते हुए सीमित और विकृत रूप में पूँजीवाद को विकसित करना चाहती थी। सामंतवाद, पूँजीवाद और औपनिवेशिक सत्ता की साथ-साथ मौजूदगी के कारण यहाँ समाज के आधार और अधिरचना का वैसा संबंध नहीं बन पाया, जो यूरोप में सामंतवाद के विरुद्ध पूँजीवाद के उत्थान और विकास से बना। यहाँ मध्य वर्ग तथा व्यक्तिवाद के रूप और दोनों की भूमिका भी यूरोप जैसी नहीं थी। यही कारण है कि प्रेमचंद जैसे रचनाकार और रामचंद्र शुक्ल जैसे विचारक ने व्यक्तिवाद की कड़ी आलोचना की।

प्रेमचंद की रचनाशीलता का ऐतिहासिक संदर्भ स्वाधीनता आंदोलन का था। इस स्वाधीनता आंदोलन का मुख्य प्रयोजन था देशी-विदेशी शोषण से जनता की मुक्ति। इसमें जनता का संघर्ष एक साथ सामंतवाद, पूँजीवाद और विदेशी साम्राज्यवाद से था। इस स्वाधीनता आंदोलन में निर्णायक भूमिका भारतीय जनता की थी। सामान्यतः भारतीय साहित्य में और विशेषतः हिंदी साहित्य में यथार्थवाद का विकास स्वाधीनता आंदोलन के कारण और साथ-साथ हुआ। हिंदी उपन्यास और उसकी यथार्थवादी धारा का निर्माण भी इसी स्वाधीनता आंदोलन से जुड़ा हुआ है। इसीलिए प्रेमचंद के पहले और बाद के यथार्थवादी लेखकों का मूल स्वर सामंतवाद-विरोधी, पूँजीवाद-विरोधी और साम्राज्यवाद-विरोधी है।

प्रेमचंद ने पश्चिम के उपन्यासों में मौजूद इतिहास और उपन्यास के संबंध को पहचाना और हिंदी उपन्यास को भारतीय जनता के ऐतिहासिक संघर्ष से जोड़ा। उन्होंने अपने उपन्यासों में जनता के ऐतिहासिक संघर्ष की अभिव्यक्ति की। इसी पहचान के कारण प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास को पौराणिक कथाओं, तिलस्मी, जासूसी और नितान्त काल्पनिक कथाओं की दुनिया से निकालकर जनता के जीवन-संघर्ष और मुक्ति-संघर्ष की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में विकसित किया। यह परिवर्तन केवल अंतर्वस्तु का नहीं था, नई अंतर्वस्तु के अनुरूप उपन्यास के नए रूप के विकास का भी था। इस विकास के प्रसंग में उन्होंने यूरोप के यथार्थवादी उपन्यासकारों—विशेषतः रूसी उपन्यासकारों से बहुत कुछ सीखा। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रेमचंद ने अपने पहले के हिंदी-उर्दू के उपन्यास की परंपरा से कुछ नहीं सीखा, या उसमें सीखने के लायक कुछ था ही नहीं। प्रेमचंद के पहले के हिंदी-उर्दू के कथा-साहित्य में; पौराणिक, जासूसी और कल्पनाप्रधान कथा-साहित्य में भी देश-प्रेम और समाज-सुधार की भावना मौजूद थी। प्रेमचंद ने हिंदी-उर्दू के पूर्ववर्ती कथा-साहित्य में मौजूद देश-प्रेम, स्वाधीनता के भाव और समाज-सुधार की प्रवृत्ति को पहचाना और उनकी यथार्थवादी जमीन की तलाश करते हुए अपने उपन्यासों में उनको उच्च कलात्मक स्तर पर व्यक्त किया। प्रेमचंद ने यूरोप और भारतीय साहित्य की परंपरा से जितना लिया उससे अधिक नया और सार्थक दिया।

प्रेमचंद के उपन्यासों की दुनिया को पश्चिम के महान उपन्यासकारों, 19वीं शताब्दी के आलोचनात्मक यथार्थवाद के रचनाकारों के उपन्यासों की दुनिया के साथ रखकर देखने पर प्रेमचंद की महानता का बोध होता है। प्रेमचंद के कथा-साहित्य की दुनिया पश्चिम के आलोचनात्मक यथार्थवाद के रचनाकारों की दुनिया से भिन्न किस्म की है। यूरोप के उपन्यासकारों की दुनिया के केंद्र में या तो पतनशील सामंत वर्ग है या उत्थानशील बुर्जुआ वर्ग या दोनों, और इन दोनों का संघर्ष है। इस दुनिया में किसानों और मजदूरों की उपस्थिति बहुत अधिक नहीं है, अंतर्वर्गीय संबंधों के चित्रण के संदर्भ में वे कहीं-कहीं मौजूद हैं। उपन्यासों के नायक या तो मध्यवर्ग के हैं या सामंत वर्ग या बुर्जुआ वर्ग के। किसान और मजदूर वर्ग के नायक एक-दो अपवादों को छोड़कर शायद ही

मिलें। जब मैं यह कह रहा हूँ तो आलोचनात्मक यथार्थवाद के दो महान रचनाकारों—बाल्ज़क और तोल्सतोय—को भूल नहीं रहा हूँ।

प्रेमचंद के कथा-साहित्य में मध्यवर्ग भी है, लेकिन केंद्रीय स्थिति किसान-जनता की ही है। यहाँ किसानों का जीवन-संघर्ष ही केंद्रीय विषय है। जीवन में किसान जिस शोषण के शिकार थे, उस शोषण के पेचीदे तंत्र, उसकी जटिल प्रक्रिया और उसकी भयानक परिणति का चित्रण प्रेमचंद ने किया है। इसके साथ ही उन्होंने सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध किसान जनता के मुक्ति संघर्ष का भी चित्रण किया है। प्रेमचंद अपनी रचनाओं में अपने समय के किसान जीवन के जितने महान कथाकार हैं, वे अपने समय के भारतीय समाज के ऐतिहासिक संघर्ष और विकास की दिशा, प्रक्रिया और गति को पहचानने वाले उतने ही महत्वपूर्ण इतिहासकार भी हैं। प्रेमचंद किसान, मजदूर, मध्यवर्ग, सामंत वर्ग, पूँजीपति वर्ग और साम्राज्यवादी शासकों का चित्रण एक-दूसरे से अलग एकाकी रूप में नहीं करते, वे एक व्यापक सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया और उसकी विचारधारात्मक परिणतियों के भीतर अंतर्वर्गीय संघर्षों और संबंधों का चित्रण करते हैं। यही कारण है कि प्रेमचंद के उपन्यासों से उस काल के सामाजिक यथार्थ की जटिल समग्रता और राजनीतिक संघर्ष की अंतर्विरोधों से भरी हुई प्रक्रिया का बोध होता है।

प्रेमचंद के कथा-साहित्य के लगभग सभी नायक किसान ही हैं। यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय किसान ही उनके उपन्यासों का नायक है और इस किसान के विभिन्न रूप, जीवन-संघर्ष और मुक्ति-संघर्ष में लगे हुए किसान के विभिन्न रूप, अलग-अलग रचनाओं में दिखाई देते हैं। प्रेमचंद किसानों के चरित्र की पूर्णता को अतिरिक्त महत्व नहीं देते और वे उनके व्यक्तिगत अनुभवों के चित्रण पर भी अधिक नहीं टहरते हैं, क्योंकि वे महान चरित्रों के निर्माण के बदले एक किसान व्यक्तित्व का समग्रता में चित्रण करना चाहते हैं। उनके इस वास्तविक और संभावित किसान-व्यक्तित्व के अलग-अलग पक्ष विभिन्न रचनाओं में हैं, लेकिन जो पक्ष जहाँ है, वहाँ अपनी पूर्णता के साथ है। ऐसी स्थिति में प्रेमचंद के उपन्यासों में यूरोप के उपन्यासों के मध्यवर्गीय समस्यामूलक चरित्रों की खोज करना प्रेमचंद की रचना-प्रक्रिया को बिना समझे एक गलत माँग करना है।

प्रेमचंद महान चरित्रों के निर्माण से अधिक महत्व समाज की विकास प्रक्रिया और ऐतिहासिक संघर्ष के चरित्र को देते हैं। स्वभावतः इन दोनों में मनुष्य का क्रियाशील जीवन प्रकट होता है और इस प्रकार मानव चरित्र का चित्र भी निर्मित होता जाता है। जो लोग उपन्यासों में केवल महान चरित्र ढूँढा करते हैं, उनसे पूछना चाहिए कि आखिर उपन्यास की कौन-सी चीज हमें प्रभावित करती है—केवल कुछ मोहक चरित्र या उपन्यास की पूरी दुनिया? प्रेमचंद ने सामाजिक प्रक्रिया के चित्रण के दौरान ही अपने कथा-साहित्य में अनेक प्रकार के मानव-चरित्रों के चित्रों का निर्माण किया है। मानव-स्वभाव की ऐसी विविधता किसी एक रचनाकार के रचना-संसार में मुश्किल से मिलेगी। मानव-चरित्र के इन चित्रों के रूप-रंग की विविधता से प्रेमचंद के व्यापक जीवनानुभव और उनकी सर्जनात्मक कल्पना-शक्ति का अंदाज लगता है।

प्रेमचंद ने किसान-जीवन को अपने कथा-साहित्य का केंद्र बनाकर पश्चिम में प्रचलित उपन्यास की परंपरा से अलग रास्ता चुना तो रचनात्मक स्तर पर एक कठिनाई भी मोल ले ली। मध्यवर्ग के जीवन को केंद्र बनाकर उपन्यास-कहानी लिखने में जितनी सुविधा है उतनी किसान-जीवन को अपनाने में नहीं है। मध्यवर्ग का जीवन काफी खोखला होता है, उसमें तनावों, भ्रमों, मोहों, रोमांटिकता और बनावटीपन के लिए बहुत जगह होती है। ऐसे जीवन को उपन्यास में बदलना अपेक्षाकृत सरल हो सकता है। इसके विपरीत, किसानों का जीवन काफी तथ्यात्मक होता है। वहाँ जीवन की वास्तविकता इतनी घनीभूत, साक्षात् आतंकभरी होती है कि उसमें से कथा का विकास करना पहाड़ के बीच से रास्ता बनाना है। शायद इस रचनात्मक कठिनाई के कारण ही किसान जीवन पर उपन्यास-कहानी लिखने से कुछ लोग बचते हैं और अगर कोशिश करते हैं तो रचनाएँ अत्यंत काल्पनिक या तथ्यात्मक हो जाती हैं। यह प्रेमचंद की रचनात्मक प्रतिभा और किसान-जीवन की गहरी समझ का प्रमाण है कि उन्होंने किसान-जीवन को अपने कथा-साहित्य का केंद्र ही नहीं बनाया, किसान जीवन की वास्तविकता और आकांक्षा का कलात्मक चित्रण करते हुए भारतीय उपन्यास की अपनी विशिष्ट यथार्थवादी परंपरा का निर्माण भी किया।

कार्ल मार्क्स ने एक जगह लिखा है कि “मैं जिससे सच्चा प्रेम करता हूँ उसके अस्तित्व की अनिवार्यता अनुभव करता हूँ।” प्रेमचंद किसानों से सच्चा प्रेम करते थे और वे किसानों के अस्तित्व की अनिवार्यता महसूस करते थे, इसलिए उन्होंने किसान-जीवन के अस्तित्व की परिस्थितियों और परेशानियों के बुनियादी कारणों की खोज और पहचान करते हुए किसान-जीवन के अस्तित्व के लिए खतरनाक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक शक्तियों, विचारों और मूल्यों के असली रूप का उद्घाटन किया। प्रेमचंद की रचनाओं से यह साबित होता है कि जो किसानों और मजदूरों से सच्चा प्रेम करते हैं, वे ही किसानों-मजदूरों के जीवन का चित्रण कर सकते हैं, अन्य नहीं। जो मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी बुद्धिजीवी किसान-जीवन को उपन्यास रचना के लायक ही नहीं समझते और हर रचना में यूरोपीय उपन्यास के मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी समस्यामूलक चरित्रों की खोज करते फिरते हैं वे किसान-जीवन से जुड़ी प्रेमचंद की रचनाशीलता को नहीं समझ सकते।

यूरोप के महान अर्थव्यवस्थावादी उपन्यासकार सामंती और बुर्जुआ व्यवस्था का चित्रण तटस्थ और आलोचनात्मक दृष्टि से करते हैं, इसलिए व्यंग्य का स्वर उनकी रचनाओं में प्रमुख है। वे अपने समय के सामंती और बुर्जुआ वर्ग तथा पूरे समाज की विडंबनापूर्ण स्थिति को ही व्यक्त करते हैं। व्यंग्य और विडंबना की प्रधानता के कारण ही बाल्ज़क अपने उपन्यासों को ‘ह्यूमन कामेडी’ कहते हैं और फिल्लिंग ‘कामिक एपिक’। प्रेमचंद किसानों से प्रेम और सहानुभूति के कारण किसानों के जीवन-संघर्ष और मुक्ति-संघर्ष का चित्रण करते समय संघर्ष में तात्कालिक पराजय के बावजूद किसानों के अंतिम विजय और शोषक व्यवस्था के अनिवार्य अंत का अहसास जगा देते हैं। प्रेमचंद की रचनाओं को हम किसान-जीवन का ‘ट्रेजिक महाकाव्य’ कह सकते हैं। ‘गोदान’ में ट्रेजेडी और महाकाव्य की नई एकता से निर्मित किसान-जीवन का ट्रेजिक महाकाव्य दिखाई देता है। ट्रेजिक स्थितियों का चित्रण प्रेमचंद की प्रारंभिक रचनाओं में भी है, लेकिन ‘रंगभूमि’ में उसका विशेष कलात्मक स्तर प्रकट होता है, ‘गोदान’ में उसके कलात्मक रूप का चरमोत्कर्ष हुआ है।

प्रेमचंद द्वारा किसान जीवन को उपन्यास और कहानी का केंद्र बनाने के पीछे सक्रिय एक दूसरी बात ध्यान देने लायक है। जिस तरह यूरोप और एशिया के सामाजिक विकास का इतिहास एक जैसा नहीं है, वैसे ही दोनों के सांस्कृतिक विकास का इतिहास भी एकदम समान नहीं है। सामाजिक इतिहास और सांस्कृतिक विकास के अंतर का प्रभाव कला-रूपों और साहित्य-रूपों के विकास में भी देखा जा सकता है। एशिया में कथा-साहित्य की परंपरा यूरोप से पुरानी है, यह चीन और भारत के कथा-साहित्य के इतिहास से सिद्ध होता है। खास तौर से आजकल पश्चिम में चीन के जिन उपन्यासों को महत्वपूर्ण उपन्यास के रूप में सराहा जा रहा है, वे यूरोप के आधुनिक उपन्यास के विकास के पहले के हैं। एशिया के कथा-साहित्य की एक विशेषता यह है कि वह मुख्यतः ग्रामीण जीवन से संबंधित है। रूस में यूरोप और एशिया के कथा-साहित्य की परंपराओं का मेल दिखाई देता है। स्वयं तोल्सतोय की रचनाओं में विषयवस्तु और संरचना की दृष्टि से दोनों परंपराओं का योग दिखाई देता है। तोल्सतोय की कहानियों में कथा की जो संरचना है, वह लोक-कथाओं की संरचना के अधिक करीब है, जहाँ एक कहानी में से दूसरी कहानी विकसित होती है। कहानी की यह संरचना चेखव की कहानियों से भिन्न है। प्रेमचंद ने यूरोपीय कथा-साहित्य की परंपरा में रूसी कथाकारों से अधिक सीखा था और रूसी कथाकारों में भी वे तोल्सतोय के अधिक निकट हैं। प्रेमचंद यथार्थ-चित्रण की विधि के संदर्भ में तोल्सतोय के करीब हैं और विचार के स्तर पर गोर्की के। प्रेमचंद ने ग्रामीण परिवेश और किसान-जीवन को अपने कथा-साहित्य का केंद्र बनाकर कथा-साहित्य की एशियाई परंपरा को आगे बढ़ाया है। पूरे एशिया में आधुनिक साहित्य का विकास साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष के साथ हुआ है। राष्ट्रीय जागरण और साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में विकसित एशिया का आधुनिक साहित्य यूरोप के बने-बनाए रास्ते पर ही नहीं चला है।

यूरोप के आलोचनात्मक यथार्थवाद के रचनाकारों ने पुरानी सामंती व्यवस्था, उसके पतनशील जीवन-मूल्यों तथा नई पूँजीवादी व्यवस्था और उसके उभरते जीवन-मूल्यों के मानव-विरोधी रूपों की आलोचना करके अपनी विशेष ऐतिहासिक

भूमिका का निर्वाह किया। कुछ रचनाकारों ने कहीं-कहीं पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना करते हुए शोषित जनता के साथ सहानुभूति भी व्यक्त की। आलोचनात्मक यथार्थवाद के रचनाकारों ने उदार मानववादी मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से सामंतवाद और पूँजीवाद की आलोचना तो की, लेकिन किसानों और मजदूरों के दृष्टिकोण से वे समाज के अतीत, वर्तमान और भविष्य को न देख सके। यह उनके दृष्टिकोण की वर्गीय और ऐतिहासिक सीमा थी। प्रेमचंद ने यूरोप के यथार्थवादी लेखकों की सामंतवाद और पूँजीवाद की आलोचना से काफी कुछ सीखा। प्रेमचंद के सामने अपने समाज के इतिहास की दी हुई एक और बड़ी समस्या थी। वे एक ऐसे समाज के विशेष ऐतिहासिक दौर में रचना कर रहे थे जो औपनिवेशिक सत्ता की गुलामी और शोषण से छुटकारा पाने के लिए संघर्ष कर रहा था। यूरोप के यथार्थवादी लेखकों के सामने यह समस्या नहीं थी, इसलिए इस परिस्थिति से जुड़ी हुई रचनात्मक चुनौती का सामना भी इन्हें नहीं करना पड़ा। प्रेमचंद ने भारतीय समाज के इतिहास की इस भीषण समस्या की बड़ी रचनात्मक चुनौती का सामना किया। उनकी रचनाओं में सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की आलोचना है और तीनों से एक साथ मुक्ति के लिए जनता के संघर्ष का भी चित्रण है। यह प्रेमचंद के यथार्थवाद का यूरोप के आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखकों से भिन्न और एक नया आयाम है। यूरोप के आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखकों से प्रेमचंद की रचनाशीलता के अंतर का उनकी वर्ग दृष्टि और विचारधारात्मक स्थिति से गहरा संबंध है। इससे उनकी रचनाशीलता के स्वरूप और प्रयोजन में भी भिन्नता आई है। प्रेमचंद अपने समय के समाज के तटस्थ आलोचक नहीं हैं, वे जनता के पक्षधर लेखक के रूप में समाज को देखते हैं।

प्रेमचंद ने सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की जो आलोचना की है, वह वैसी ही नहीं है जैसी आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखकों की है। शोषित जनता की स्पष्ट पक्षधरता के कारण प्रेमचंद की आलोचना का रूप और प्रयोजन आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखकों से अलग है। वे प्रारंभ से ही शोषित जनता, विशेषतः किसानों की दृष्टि से पतनशील सामंती व्यवस्था और बढ़ते हुए पूँजीवाद की आलोचना कर रहे थे। अपने स्वनात्मक जीवन के अंतिम

दिनों में उन्होंने सर्वहारा वर्ग के दृष्टिकोण से भारतीय समाज के अतीत और वर्तमान को देखा और उसकी रचनात्मक अभिव्यक्ति की। इसी दृष्टिकोण से वे भारतीय समाज के भविष्य को भी देख रहे थे। प्रेमचंद ने जनता की दृष्टि से सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की आलोचना ही नहीं की है, उन्होंने अपनी रचनाओं में जनता के साथ अपनी सक्रिय सहानुभूति और पक्षधरता भी व्यक्त की है। इसका आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखकों में प्रायः अभाव है। शोषित और संघर्षशील जनता के साथ पक्षधरता के अनुसार उनकी रचनाओं की अंतर्वस्तु और रूप का निर्माण हुआ है।

प्रेमचंद के यथार्थवाद की इन विशेषताओं के कारण ही उसको यथार्थवाद के प्रचलित प्रकारों में बांधने में आलोचकों को प्रायः कठिनाई होती है। प्रेमचंद में आलोचनात्मक यथार्थवाद के लेखकों की तरह मध्यवर्गीय उदारवादी मानववादी दृष्टिकोण से सामंतवाद और पूँजीवाद की केवल नकारात्मक आलोचना नहीं है। यद्यपि उनकी अंतिम दिनों की रचनाओं में समाजवादी दृष्टि से यथार्थ के चित्रण का प्रयास है, लेकिन समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन का कोई रूप, आशावाद, क्रांतिकारी नायक और भावी समाजवादी समाज का कोई चित्र नहीं है। ऐसी स्थिति में उनकी रचनाओं को आलोचनात्मक यथार्थवादी या समाजवादी यथार्थवादी कहना आलोचकों को उचित नहीं लगता। अभी हाल में ही डॉ. चंदबली सिंह ने प्रेमचंद के यथार्थवाद को नए ढंग से परिभाषित करते हुए उसे 'क्रांतिकारी जनवादी यथार्थवाद' या 'जनवादी यथार्थवाद' कहा है। प्रेमचंद के यथार्थवाद को जनवादी यथार्थवाद कहना ही उचित है और पर्याप्त भी। इस जनवादी यथार्थवाद में क्रांतिकारी चेतना अंतर्निहित है। आर्नाल्ड केटेल ने डिर्केंस के यथार्थवाद के स्वरूप पर विचार करते हुए उसे आलोचनात्मक यथार्थवाद और समाजवादी यथार्थवाद से अलग—लोकप्रिय यथार्थवाद कहा है—लेकिन उन्होंने लोकप्रियता की जो व्याख्या की है वह जनवादी का समानार्थी है। ब्रेस्ट ने यथार्थवाद और लोकप्रियता की एकता का समर्थन करते हुए यथार्थवाद को जिस रूप में परिभाषित किया है, उसे जनवादी यथार्थवाद का पर्याय माना जा सकता है। यह जनवादी यथार्थवादी दृष्टिकोण ही प्रेमचंद के विषय चयन, उसके संगठन और रचना-रूप के विकास का नियामक है। इस

दृष्टिकोण के अनुसार ही प्रेमचंद ने भारतीय लोक-कथाओं के ढांचे का उपयोग किया और पश्चिम में विकसित उपन्यास और कहानी के नए रूप का भी। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के रचनाकार प्रेमचंद के लिए यह जनवादी यथार्थवाद केवल एक साहित्यिक दृष्टिकोण न था, इसका उनके लिए राजनीतिक, दार्शनिक और व्यावहारिक महत्व था।

प्रेमचंद के हाथों हिंदी उपन्यास की कर्मभूमि ही नहीं बदली, उसका 'कायाकल्प' भी हुआ। 'असरारे मुआबिद' से 'गोदान' तक के रचनात्मक संघर्ष और साधना से प्रेमचंद ने हिंदी-उर्दू के उपन्यास कहानी के कलात्मक रूप को निखार कर जिस यथार्थवादी परंपरा का निर्माण किया, उसके आधार पर ही भारतीय उपन्यास का नया विकास हो सकता है। जरूरत इस बात की है कि आज भारतीय रचनाकार प्रेमचंद की तरह अपने ऐतिहासिक दायित्व को पहचानें और प्रेमचंद की जनवादी यथार्थवादी परंपरा को हर स्तर पर विकसित करें।

अगर कोई व्यक्ति उन्नीसवीं सदी के मध्य से आज तक के भारतीय उपन्यास के विकास को, उसकी ऐतिहासिक भूमिका और सामाजिक सार्थकता को, उसके बदलते रूपों और कलात्मक उपलब्धियों को देखे तो उसे भारतीय उपन्यास की स्वतंत्र अस्मिता की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट दिखाई देंगी। उपन्यास यूरोप में भले ही मध्यवर्ग का महाकाव्य रहा हो, लेकिन भारत में वह मध्य वर्ग का महाकाव्य नहीं है। भारतीय साहित्य में ऐसे बहुत कम उपन्यास मिलेंगे, जो केवल मध्यवर्गीय जीवनानुभव तक सीमित हों, फिर भी उनमें महाकाव्यात्मक औदात्य हो। उन्हीं भारतीय उपन्यासों में महाकाव्यात्मक गरिमा है जिनमें भारतीय समाज के श्रमजीवी उत्पादक लेकिन शोषित जनसमुदायों के जीवन-संघर्ष का समग्रता में चित्रण है। बीसवीं सदी के यूरोप के अधिकांश बड़े उपन्यासकार मध्यवर्गीय जीवन के अनुभवों, आकांक्षाओं, भ्रमों और आशंकाओं के कलाकार हैं। जबकि भारत के अधिकांश बड़े उपन्यासकारों की रचनाशीलता का लक्ष्य किसानों, आदिवासियों, हरिजनों, स्त्रियों, मजदूरों और दूसरे शोषित दलित जनसमुदायों का जीवन है। हिंदी के प्रेमचंद, नागार्जुन तथा फणीश्वरनाथ रेणु, उड़िया के फकीर मोहन तथा गोपीनाथ मंहथी, बंगला के विभूति भूषण, ताराशंकर तथा महाश्वेता देवी, गुजराती के पन्नालाल पटेल, कन्नड़ के

शिवराम कारंत और मलयालम के तकषि शिवशंकर पिल्लै आदि भारतीय समाज के शोषित और उत्पीड़ित जनसमुदाय के अपराजेय जीवन-संघर्ष और सामाजिक संघर्ष के कथाकार हैं। भारतीय उपन्यास की दूसरी महत्वपूर्ण धारा ऐसे उपन्यासों की है, जिनके वस्तुबोध, नैतिक चेतना और शिल्पविधान का भारतीय साहित्य की परंपरा से गहरा संबंध है। इन उपन्यासों में आधुनिक संदर्भ में परंपरा के अर्थ की खोज और पहचान है। बंगला के बंकिम, हिंदी के हजारीप्रसाद द्विवेदी और उर्दू के कर्तुल-एन-हैदर के उपन्यासों में भारतीय समाज और संस्कृति के इतिहास की बदलती चेतना की अभिव्यक्ति है। भारतीय मनुष्य को भारतीय समाज की संरचनाओं, संस्थाओं और जीवन-मूल्यों के संदर्भ में ही पहचाना जा सकता है। अभी भारतीय मनुष्य की पहचान बहुत कुछ वर्ण और कर्म की पूर्व निर्धारित मूल्य-व्यवस्था के भीतर होती है। लेकिन स्वाधीनता के बाद परंपरागत मूल्य-व्यवस्था और नई चेतना के टकराव से तनाव और द्वंद्व की स्थितियाँ भी पैदा हो रही हैं। जिन उपन्यासकारों ने संस्कार और नई चेतना के बीच उभरते तनावों से गुजरते भारतीय मनुष्य के माध्यम से बदलते भारतीय समाज का गतिशील चित्रण किया है, उनमें कन्नड़ के कथाकार यू.आर.अनंतमूर्ति और उनके उपन्यास 'संस्कार' का विशेष महत्व है। स्वाधीनता के बाद भारत के आदिवासी और दूसरे दलित जनसमुदायों में नया जागरण आया है। वे समाज और इतिहास में अपनी भूमिका पहचान रहे हैं और शोषक व्यवस्था से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे हैं। भारतीय साहित्य में इस मुक्ति-संघर्ष के कथाकार भी आगे आ रहे हैं। महाश्वेता देवी के कथा-साहित्य के केंद्र में यही मुक्ति-संघर्ष है।

भारतीय उपन्यास के स्वरूप की निजता उसके रूप की विशिष्टता में है। यह कोई बहस की बात नहीं है कि अंतर्वस्तु से रूप का, यथार्थ-चेतना से शिल्प-चेतना का और जिंदगी की वास्तविकता से उसकी भाषा का गहरा रिश्ता होता है। उपन्यास की कला-दृष्टि बहुत कुछ लेखक की यथार्थ-चेतना से जुड़ी होती है। जैसे 'शेखर: एक जीवनी' के शिल्प और भाषा में 'गोदान' नहीं लिखा जा सकता, वैसे ही होरी की भाषा में शेखर के मानसिक द्वंद्व की भरपूर व्यंजना नहीं हो सकती। मध्यवर्गीय जिंदगी के अनुभवों और आकांक्षाओं वाले उपन्यासों

में विश्व नागरिकता की लालसा है। इसलिए उनके शिल्प में भी जातीयता का अभाव है। 'शेखर: एक जीवनी' में बंगला और पंजाबी के साथ-साथ अंग्रेजी की कविताएँ हैं और यूनानी लोक-कथाएँ भी हैं। अज्ञेय मानते हैं कि संवेदना के स्तर पर भारतीय और पश्चिमी लेखक में कोई फर्क नहीं है। इसके ठीक विपरीत किसानों, आदिवासियों और दूसरे दलित जनसमुदायों के कथाकारों की शिल्प-चेतना में भारतीय कथा-परंपरा के तत्वों का उपयोग है, लोक-संस्कृति से लगाव है और जनजीवन की भाषा तथा बोली का रचनात्मक रूप है। तात्पर्य यह कि ऐसे उपन्यासों में स्थानीयता और आंचलिकता की जमीन पर भारतीयता खड़ी है। विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय के उपन्यास में बंगाल की वह सांस्कृतिक चेतना है, जिसमें महाभारत की कथा से लेकर वैष्णव पदावली तक की स्मृतियाँ शामिल हैं। प्रेमचंद के 'गोदान' में किसान-जीवन की यथार्थ-चेतना और भाषिक संवेदनशीलता के बीच गहरी आत्मीयता है। 'गोदान' में सहजता की कला है तो 'मैला आंचल' में लोक-संस्कृति का संगीत सुनाई पड़ता है। पन्नालाल पटेल के 'मानविनी भवाई' में उत्तर गुजरात की लोक-संस्कृति के मुखर और सघन चित्र हैं। इन उपन्यासों में भारतीय समाज, संस्कृति और इतिहास के स्वर सुनाई देते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि अब तक के भारतीय उपन्यास में वही सामाजिक दृष्टि से सार्थक और कलात्मक दृष्टि से श्रेष्ठ है, जिसके केंद्र में भारतीय शोषित और दलित जनसमुदायों का जीवन-संघर्ष और मुक्ति-संघर्ष है। भारतीय समाज के साथ-साथ भारतीय उपन्यास का भविष्य भी इन्हीं जन-समुदायों के भविष्य से जुड़ा हुआ है।